 ISSN : 3049-3463 (Online)

हिन्दी के प्रयोगशील नाटक और रंगकर्म

✍ प्रियम कुमारी

भरत मुनि ने नाट्य प्रस्तुति के लिए 'नाट्य –प्रयोग' शब्द का इस्तेमाल किया है और नाटक की प्रस्तुति के लिए प्रयोग शब्द समूची संस्कृत रंग– परम्परा में चलता रहा है। पर शायद साहित्य की एक प्रयोगधर्मी कही जानेवाली प्रवृत्ति के दबाव में दिल्ली में साठ के दशक में प्रयोगधर्मी नाटकों का जिक्र उठ खड़ा हुआ। मगर इस प्रयोगधर्मी नाटक परम्परा का सीधा संबंध 'ऐब्सर्ड' या 'असंगत' नाटकों से हो गया। इस परम्परा को ऑयनेस्को और सैम्युएल बेकेट ने ज्यादा प्रभावित किया। इस पर कुछ असर स्वच्छन्द स्त्री–पुरुष सम्बन्धों की उस प्रवृत्ति का पड़ा जो साहित्य में कविता के एक हिस्से का मुख्य कथ्य बनी हुई थी। जाँघों के भूगोल के प्रति श्रीकान्त वर्मा, धूमिल, राजकमल चौधरी और जगदीश चतुर्वेदी जैसे कवि बड़े खुले बयान देने लगे थे। साहित्य में कुछ गालियाँ भी दिखाई देने लगी थीं, जिसमें अग्रणी भूमिका कृ ष्णा सोबती ने निभाई थी। इस सबका सीधा और अविकल प्रवेश नाटक की दुनिया में हुआ।

रमेश बक्षी ने एक नाटक स्त्री–पुरुष सम्बन्धों पर इसी दायरे में लिखा, जिसे देवेन्द्र राज अंकुर और राजन सब्बरवाल ने किया। यह नाटक बहुत कुछ रमेश बक्षी की अपनी जिन्दगी की तस्वीर भी था। वे खुद किसी लड़की के साथ रह रहे थे और विवाह के विरुद्ध भी थे। नाटक में चौकाने वाला बहुत कुछ था, पर स्थायी प्रभाव इसने नहीं छोड़ा। बाद में रमेश बक्षी बहुत बरसों तक अपने मकान की छत पर सेस थियेटर नामक कोई प्रयोगशील नाटक करते रहे थे, पर रंग– जगत के लोगों को यह कभी पता नहीं चला कि वहाँ कैसे नाटक होते हैं

'अक्षर' नामक एक और रंगशाला विदेश से लौटे एक दम्पति ने बनाई, पर उसने भी विशेष प्रतिष्ठा अर्जित नहीं की। सबसे ज्यादा काम, संकट उठाकर भी दो रंग मंडलियों ने किया 'दिशान्तर' और 'अभियान'। दिशान्तर में ज्यादातर रंगकर्मी राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के थे और अभियान में ज्यादा तादाद उनकी थी जो कुशल रंगकर्मी थे, पर जिन्होंने रंगचर्या अभ्यास से कमाई थी। राजेन्द्रनाथ, कुलभूषण खरबन्दा, श्याम अरोड़ा, टी. पी. जैन, सुधा चोपड़ा आदि अभियान में थे और ओम शिवपुरी, सुधा शिवपुरी, रामगोपाल बजाज, दिनेश ठाकुर आदि दूसरी महत्त्वपूर्ण मंडली दिशान्तर में थे। दिशान्तर से मोहन राकेश और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का निकट सम्बन्ध था, जबकि अभियान से निकट सम्बन्ध ललित सहगल का था, जिन्होंने एक नाटक 'हत्या एक आकार की' लिखा था।

राजेन्द्रनाथ ने बहुत से महत्त्वपूर्ण नाटकों का निर्देशन किया। अच्छी बात है कि तब में राजेन्द्रनाथ की तुलना में ब्रजमोहन शाह को बेहतर निर्देशक मानता था। इस विषय में नेमिचन्द्र जैन का कहना था– "शाह की तुलना में राजेन्द्रनाथ ज्यादा संवेदनशील निर्देशक हैं। यह बात रंगकर्मियों की समझ में बहुत देर

 ISSN : 3049-3463 (Online)

से आई।"[1] राजेन्द्रनाथ के बारे में अंग्रेजी नाटक समीक्षक और एनेक्ट पत्रिका के दो सम्पादकों में से एक पॉल जेकब कहा करते थे– "राजेन्द्रनाथ पूर्वाभ्यास की अध्यक्षता करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि राजेन्द्रनाथ पूर्वाभ्यास के दौरान बहुत ही कम बोलनेवाले व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध थे। ब्रजमोहन शाह में निश्चय ही कलात्मक–बोध और सौन्दर्य–बोध की कमी रही है, बल्कि उनकी प्रस्तुतियों में थोड़ा मशीनीपन रहा है।"[2]

दिशान्तर ने मोहन राकेश का बहुचर्चित नाटक 'आधे अधूरे का मंचन किया। इसी मंडली ने काफी दिन से पड़ा नाटक 'हयवदन' का भी मंचन किया। पर इसकी तुलना में अभियान ने निश्चय ही प्रयोगधर्मिता की और ज्यादा रुचि दिखाई। इस दिशा में उसकी एक प्रस्तुति खास चमत्कारी थी। रंग– शिल्प और अभिनय दोनों ही दृष्टियों से। गिनीपिग' की इस प्रस्तुति में कुलभूषण खरबन्दा ने बेजोड़ अभिनय किया था, पर लोग हैरान थे कि प्रस्तुति में दर्शकों की संख्या कुल नौ थी। इसी प्रस्तुति के दौरान एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना घटी। अभियान रंगमंडली के कलाकारों में झगड़ा हो गया और कुछ महत्त्वपूर्ण कलाकार उससे अलग हो गए। लेकिन रंगकर्म के प्रति कलाकारों की निष्ठा का अद्‌भुत उदाहरण भी इसी घटना से जुड़ा है। इस प्रस्तुति के दौरान मंडली से अलग हुए सारे कलाकारों ने अपनी जिम्मेदारी पूरी तरह निभाई। वे दरवाजे की व्यवस्था से लेकर नेपथ्य तक के काम बाकायदा निभाते रहे थे।

'ब्रजमोहन शाह का स्वभाव निश्चय ही कुछ अलग खड़े होने और खासकर रंगमंच में प्रयोगात्मक मुहावरे का इस्तेमाल करने का था, पर सौन्दर्यबोध की कोई कमी उनकी प्रस्तुतियों को प्रभावी होने से रोक देती थी। शाह ने एक नाटक 'किया था– 'थोर्स फेथफुली'। तब लिटिल थियेटर ग्रुप की रंगशाला बन गई थी। उसके उद्‌घाटन की प्रस्तुति थी। प्रस्तुति में अभिनय, समूहन आदि निश्चय ही बहुत अच्छा था पर दृ श्यबन्ध की सौन्दर्य विहीनता या कल्पना विहीनता साफ झलक रही थी। इसी में मीनाक्षी (बाद में मीनाक्षी ठाकुर) ने अभिनय किया था, जो नई–नई जयपुर से आई थी और अच्छे अभिनय के लिए विख्यात थी।'[3]

यहाँ जयपुर का जिक्र जरूरी है। दिल्ली के रंगजगत में जयपुर की अनेक और बड़ी प्रतिभाएँ थीं। खुद ओम शिवपुरी जयपुर का ही था। मोहन महर्षि और भानुभारती भी जयपुर के ही हैं। जयपुर के बहुत से रंगकर्मी मुम्बई में फिल्मों में भी काम कर रहे हैं और उनकी खासी प्रतिष्ठा रही है। पिंचू कपूर उन्हीं में से एक थे। इला अरुण भी वहीं की है। यह हैरानी की बात है कि जयपुर की पहचान इस दृष्टि से नहीं की गई। वहाँ एक विख्यात रंगकर्मी डाँगी परिवार रहा है, जिसने पारसी रंगमंच के अन्तिम दौर की व्यावसायिक प्रस्तुतियों के लिए ख्याति अर्जित की थी। डाँगी परिवार के गणपतलाल डाँगी आकाशवाणी जयपुर में काम करते थे और नियमित रूप से संगीत प्रधान प्रहसन करते थे। वे खुद बहुत अच्छे गायक और वादक रहे हैं। दिल्ली में एक बार हमारे कमरे में उन्होंने रावण हत्था बजाया था और उनके कौशल की प्रशंसा हमारी यूनियन के उपाध्यक्ष विख्यात वीणावादक कामाशास्त्री ने की थी। हो सकता है कि जयपुर में गणपतलाल डांगी और उनके परिवार की व्यावसायिक थियेटर कम्पनी की उपस्थिति ने ही ऐसा माहौल पैदा किया हो, जिसके कारण वहाँ के युवा रंगकर्मियों ने देश में अपनी छवि बनाई हो। इस तरह के क्षेत्रीय रंग विकास का अध्ययन कभी किसी ने नहीं किया जबकि वह बहुत जरूरी था। खुद दिल्ली में

ISSN : 3049-3463 (Online)

समृद्ध रंगकर्म के पीछे परम्परा का कितना हाथ है यह देखा जाना चाहिए। दिल्ली में व्यावसायिक पारसी रंगमंच के एक सिद्ध कलाकार मास्टर पंपालाल और उनकी पत्नी (शायद तारादेवी) भरतराम के औद्योगिक संस्थान द्वारा हर साल की जानेवाली रामलीला की मंडली में काम करते रहे थे। ये बात करते थे तो लगता था आवाज बैठ गई है। मंच पर उतरते ही या रेडियो के माइक के सामने आते ही उनकी आवाज वैसी ही हो जाती थी जैसी जरूरी हो। सम्भवत लखनऊ में भी उन्नीसवीं सदी की विख्यात और लोकप्रिय 'इन्दरसभा' और इस सदी के पूर्वार्द्ध में पारसी रंगमंडलियों और नौटंकी मंडलियों की सक्रियता का असर रहा हो कि यहाँ एक सशक्त रंगकर्म विकसित हो सका। कानपुर स्वयं भी इसी तरह की स्थिति से लाभ उठाकर समृद्ध रंगकर्म दे सका, लेकिन इन जड़ों से असंपृक्त या विछिन्न और पश्चिम के रंगकर्म के बेकेट जैसे प्रयोगों के करीब आ खड़ी हुई रंगचर्या और रंगलेखन की एक अल्पजीवी दुनिया को देखना भी एक रोचक अनुभव है। जैसे कविता पर योरप (या अमरीका) की बीटनिक पीढ़ी का असर हो रहा था और चित्रकला पूरी तरह पालक्ली की दिशा में बढ़ रही थी, रंगकर्म का बहाव भी उधर ही था, पर इसमें कुल मिलाकर सौन्दर्य संस्कार बहुत क्षीण था। वह चौकानेवाला काम ज्यादा कर रहा था कल्पनाशीलता बहुत कम थी। हाँ, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय या राजेन्द्रनाथ जैसे एकाध लोग इसके अपवाद जरूर थे। यह फर्क मैंने अपने ही दो नाटकों की प्रस्तुतियों में देखा। अच्छे अभिनय के बावजूद ब्रजमोहन शाह द्वारा प्रस्तुत "योर्स फेथफुली' कुल मिलाकर चौकाता भले था, कला की गहराई दिखाई नहीं देती थी। इसके विपरीत राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने जो प्रस्तुति 'तिलचट्टा' की थी, उसकी दृश्यरचना ही एक स्वतन्त्र चित्रकला थी।

ब्रेख्त को भी एक उत्साही युवा रंगनिर्देशक ने प्रयोगधर्मिता की लपेट में ले लिया था। ब्रेख्त अपनी प्रस्तुतियों के पूर्वाभ्यास भी प्रदर्शन के लिए करते थे और पूर्वाभ्यास के दौरान नाटक रोककर उससे सम्बन्धित बहुत–सी बातें समझाते थे। मसलन उनके एक नाटक में वेश्याओं के बैठे होने का दृश्य है। अभिनेत्रियाँ निर्धारित जगह बैठी थीं कि अचानक ब्रेख्त ने पूर्वाभ्यास रोका और एक अभिनेत्री को बताया कि तुम अपने पैर इस तरह रखो। इसके तत्काल बाद ब्रेख्त ने काफी देर यह समझाया कि इस तरह का काम करनेवाली लड़कियों के बैठने, उठने, खड़े होने आदि के ढंग क्या होते हैं और उसके पीछे कारण क्या होते हैं। "ऐब्सर्ड ड्रामा की योरोपीय परम्परा के विख्यात व्याख्याता मार्टिन एस्लिन ने ब्रेख्त के इस प्रस्तुतिशिल्प का लम्बा ब्योरा दिया है। ध्यान रहे वे ऐब्सर्ड ड्रामा के व्याख्याता थे और ब्रेख्त रंगचर्या को एक अदालत (पंचाट या ट्रिब्युनल) मानते थे।"[4]

खैर, जो प्रस्तुति दिल्ली के उत्साही युवक ने ब्रेख्त शैली में की, उसे उन्होंने सचमुच ही श्रेयस्कर बना दिया। उन्होंने अपने सीने पर तख्ती लटका रखी थी, जिस पर लिखा था–निर्देशक ये प्रस्तुति के बीच मंच पर आते और फिल्मों की तर्ज पर चीखते– कट। इस पर कलाकार रुक जाते तब वे कहते थे, इस संवाद को फिर से बोलो। इसे ही ये ब्रेख्त का शिल्प कहते या मानते थे। बाद में अमिताभ दास गुप्त ने ब्रेख्त शैली में अच्छे नाटक किए।

 ISSN : 3049-3463 (Online)

प्रयोग का असर लक्ष्मीनारायण लाल पर काफी पड़ा। वे नई कविता की दौर से आये हुए लेखक थे। इस इलाके यानी इलाहाबाद में विपिन अग्रवाल, लक्ष्मीकान्त वर्मा और अमृत राय ने भी कुछ प्रयोगधर्मी नाटक लिखे। पर ये दिल्ली में लेने नहीं गए। लक्ष्मीनारायण लाल ने जरूर अपने आपको दिल्ली के रंगजगत में प्रवेश दिलवा लिया। सचमुच और प्रभावित करने वाले दो छोटे नाटक ऐसे लोगों ने लिखे और किए, जिन्होंने बाद में कुछ नहीं लिखा। ये थे बलराज पंडित जो आज पटियाला विश्वविद्यालय में नाटक पढ़ाते थे और शोभना भूटानी जो अब नहीं है। शोभना राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से प्रशिक्षित थीं। बेहद सुन्दर, तेज–तर्रार शराब पसन्द करने वाली दोनों ने लगभग एक–एक घंटे के नाटक लिखे थे। सम्भवतः किसी एक या दोनों ही नाटकों का शीर्षक था–'शायद हो।' बाद में एक दिन हम लोगों ने सुना, एक बरसाती रात शोभना मुम्बई के समुद्र में डूबकर मर गई।

प्रयोग के इसी जुनून की वजह से मैंने अपना पहला नाटक 'मरजीवा' लिखा था। इसके पहले पाठ पर राजेन्द्र पाल ने कहा था– इसमें नाटकीय युक्तियाँ तो बहुत हैं, पर नाटकीयता के तत्त्व बहुत कम हैं। राजेन्द्र पाल की इस टिप्पणी से मैं सहमत नहीं हुआ, पर टिप्पणी कहीं परेशान बराबर करती रही। राजेन्द्र पात उन दिनों पॉल जैकब के साथ रंगचर्या की बेहतरीन पत्रिका 'एनेक्ट' निकालते थे। इसमें हम लोग अलकाजी की आलोचना किया करते थे। राजेन्द्र पाल बाद में ऐसे बीमार हुए कि उन्हें देखकर तकलीफ महसूस होती है।

एक समय था जब लोगों को लगने लगा था कि कुछ भी हो अलका लोक परम्परा के नाटकों से कटी ही रहेंगी। उनकी संगीत की पृष्ठभूमि पश्चिमी संगीत की दी और रंगशिल्प निश्चय ही योरप के शिल्प का ही अभ्यास था। हाँ योरपीय मुहावरे को प्रयोग में उनसे अद्वितीय मौलिकता थी लेकिन उन्होंने जापान के काबुकी शिल्प का नाटक 'इयारागी करके लोगों को चमत्कृत किया था। हम सब यह सोचने लगे थे कि अगर वे 'हयवदन' या फिर घासीराम कोतवाल करते तो एक नया ही अनुभव देते। लोक तत्वों के पुनर्जागरण के इस दौर ने धीरे–धीरे जमीन पकड़ी और इसी क्रम में ग्रातायस्की शैली में नाटक करने की कोशिश में लगे वासुदेव या अत्यधिक अमूर्त प्रयोग की कोशिश करते एस. वासुदेव जैसे लोग लगभग खत ये गए। उन दिनों दोनों ही वासुदेव मुझे आकृष्ट करते थे। एस. वासुदेव ने मेरे किसी एक नाटक का में अनुवाद किया था। अनुवाद इतना प्रयोगधर्मी या कि मुझे पता ही नहीं चला कि उसमें अपने नाम के अतिरिक्त में अपना नाटक कहाँ देखें। कुछ अरसे बाद एक दिन श्रीलता स्वामीनाथन मिली। मालूम हुआ 'मरजीवा' करना चाहती हैं। निर्देशक घबराहट हुई, क्योंकि तब तक में राजेन्द्र पाल की टिप्पणी से वे सहमत हो चुके थे। ये इसके पुनर्लेखन का समय देने को भी तैयार नहीं थी, क्योंकि वे इसे नाटकीयता नहीं नाटकीय युक्तियों के लिए करना चाहती थी। यह निश्चय ही रंगकर्म की प्रयोगधर्मिता का एक नमूना था कि सिर्फ नाटकीय पक्तियों के आधार पर ही श्रीलता ने इसे एक अच्छा अनुभव बना दिया।

रंगकर्मी नसीरुद्दीन शाह ने इन्हीं युक्तियों को कुछ अपने अर्थ भी दिए थे। नसीर ने ही "तिलचट्टा में भी अभिनय किया था। बाद में नसीर फिल्मों की दुनिया में चले गए और बीतता स्वामीनाथन भारतीय

ISSN : 3049-3463 (Online)

कम्युनिस्ट पार्टी (माले) में महत्त्वपूर्ण काम कर रही हैं। यह बात धीरे–धीरे बहुत देर से ही समझ में आई कि जिस प्रयोगधर्मी रंगरचना के अनाटक और ऐब्सर्ड नाटकों की यह हवा बही थी, उसके पीछे एक खास समृद्ध समुदाय की यह कोशिश थी कि नाटक काव्य से न जुड़ने पाए, वह किसी तरह उन्हें कठघरे में खड़ा करने वाली पंचलाइट न हो जाए।"[5]

निष्कर्षतः अनेक रंगकर्मियों ने अपनी प्रयोगधर्मिता के बल पर हिन्दी नाटकों को बहुत ऊँचाई तक पहुँचाया। जिस प्रकार नाटककारों ने सृजनात्मक स्तर पर भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' का अतिक्रमण कर नवीन सौन्दर्यशास्त्र की मांग की है, उसी प्रकार रंगकर्मियों ने भी कई तरह के अभिनव प्रयोग से एक नवीनतम रंगशिल्प को विकसित किया। यह अलग सवाल है कि इस प्रयोगशीलता के प्रेरक पाश्चात्य नाटककार रहे हैं। फिर भी यह प्रयोगशीलता भारतीय तथा पाश्चात्य रंगकर्म का समन्वय कहा जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ– सूची :

(1) समकालीन हिन्दी नाटककार– गिरीश रस्तोगी, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, 1982 ई., पृष्ठ– 93

(2) समकालीन हिन्दी नाटक की संघर्ष–चेतना– गिरीश रस्तोगी, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 2001 ई., पृष्ठ– 17–18

(3) वही, पृष्ठ– 30

(4) हिन्दी साहित्य कोश, भाग–1, संपादक– डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमंडल प्रकाशन, वाराणसी, 1956 ई०, पृष्ठ– 703

(5) हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव– डॉ. विश्वनाथ मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1966 ई०, पृष्ठ– 127

❒